International Journal of Hindi Research
www.hindijournal.com
ISSN: 2455-2232
Received: 17-07-2026, Accepted: 17-08-2026, Published: 01-09-2026
Volume 12, Issue 3, 2026, Page No. 128-132

सांस्कृतिक चेतना और सामासिक संस्कृतिः नज़ीर की कविता का आत्मीय पाठ

डॉ. आलोक कुमार सिंह
सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग, देवचंद महाविद्यालय, हाजीपुर, वैशाली, बिहार, भारत
DOI: https://doi.org/10.66856/ijhr.2026.12.3.12221

सारांश
प्रस्तुत शोध–आलेख नज़ीर अकबराबादी की कविता के आत्मीय पाठ के जरिए उसमें निहित सांस्कृतिक चेतना और सामासिक संस्कृति की पड़ताल करता है। हिंदी साहित्य के इतिहास में रीतिकाल मुख्य रूप से रीतिपरक शास्त्रीयता, राज्याश्रय और विलासिता का युग रहा है। ऐसे दौर में नज़ीर अकबराबादी ने दरबारी चमक–दमक और सामंती प्रस्तावों को दरकिनार कर आम अवाम के जीवन, उनके संघर्षों और लोक–उत्सवों को अपनी काव्य–संवेदना का केंद्र बनाया। यह आलेख रेखांकित करता है कि नज़ीर की कविता केवल मनोरंजन का साधन नहीं, बल्कि भारत की गंगा–जमुनी (सामासिक) संस्कृति और जन–साधारण की आत्मीयतापूर्ण सांस्कृतिक चेतना की जीवंत अभिव्यक्ति है। वे जितने चाव से इस्लामी पर्वों का वर्णन करते हैं, उतनी ही श्रद्धा से हिंदू देवी–देवताओं (कृष्ण, महादेव) और त्यौहारों (होली, दीवाली, रक्षाबंधन) पर भी लेखनी चलाते हैं। भाषा के स्तर पर भी उन्होंने अरबी–फ़ारसी के साथ ब्रज, खड़ी बोली और लोक–शब्दावली का अनूठा सामासिक संयोजन किया है। अंततः, यह आलेख हिंदी साहित्य के इतिहासलेखन में नज़ीर अकबराबादी की स्थिति की समीक्षा करते हुए समकालीन सांप्रदायिक विसंगतियों के दौर में उनके काव्य को अकादमिक पाठ्यक्रम में शामिल करने की उपचारात्मक आवश्यकता पर बल देता है।

मूल शब्दः नज़ीर अकबराबादी, सांस्कृतिक चेतना, सामासिक संस्कृति, गंगा–जमुनी तहज़ीब, लोक–रंग, इतिहासलेखन, अवाम की भाषा

किसी भी समाज की जीवंतता उसकी सांस्कृतिक चेतना और सामासिक संस्कृति के ताने–बाने में निहित होती है। 'सांस्कृतिक चेतना' से तात्पर्य किसी जन–समुदाय के उन मूल्यों, आस्थाओं, विश्वासों और जीवन–दृष्टि से है, जो उनके दैनिक व्यवहार, पर्व–त्योहारों, कलाओं और लोक–रंग में स्वतः स्फूर्त रूप से प्रकट होती हैं। यह चेतना किसी थोपे गए नियम से नहीं, बल्कि आम अवाम की साझा अनुभूतियों और आत्मिक जुड़ाव से निर्मित होती है। मेकाइवर और पेज के अनुसार, "संस्कृति हमारे दैनिक व्यवहार में, कला में, साहित्य में, धर्म में, मनोरंजन तथा आनंद में पाए जाने वाले रहन–सहन और विचार के तरीकों में हमारी प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति है"। [1] संस्कृति या तहज़ीब कोई तात्कालिक चीज़ नहीं है। संस्कृति किसी समाज के वातावरण में एक लम्बे दौर के पारस्परिक सामुदायिक आदान–प्रदान और जीवन–यापन की प्रक्रिया में विकसित होती है। लोग अपने पूर्वजों से कुछ प्राप्त करते हैं और कुछ नए दौर की आवश्यकताओं के अनुरूप बदलते या जोड़ते चलते हैं, किन्तु संस्कृति का मूल ढाँचा प्रायः बरकरार रहता है। डॉ. सम्पूर्णानंद ने भी संस्कृति को वर्तमान अनुभूतियों एवं पुरानी अनुभूतियों के संस्कारों से निर्मित किसी समुदाय के दृष्टिकोण में निहित माना है।

'सामासिक संस्कृति' भारत का वह अनुपम जीवन–दर्शन है, जहाँ विभिन्न धर्मों, जातियों, बोलियों और परंपराओं के लोग एक–दूसरे के अस्तित्व को स्वीकारते हुए, एक–दूसरे में घुल–मिलकर एक साझा सांस्कृतिक पहचान का निर्माण करते हैं। भारत की सामाजिक और सांस्कृतिक संरचना मूलतः सामासिक है। यह वह भूमि है जहाँ 'गंगा–जमुनी तहज़ीब' के अंतर्गत विभिन्न आस्थाएँ और रीति–रिवाज़ अलग–अलग धाराओं की तरह बहकर एक ही महासमुद्र में विलीन होते हैं। यहाँ के मेलों, हाट–बाज़ारों, होली–दीवाली, ईद–मुहर्रम और कबीर, जायसी, रहीम, रसखान जैसे संतों–कवियों की वाणी में यही सामासिकता सदैव धड़कती रही है। अतः जब हम 'सामासिक संस्कृति' पद का प्रयोग करते हैं, तो इसका सीधा तात्पर्य उस संश्लिष्ट रूप से होता है जो विभिन्न धर्मों, जातियों और जीवन–पद्धतियों के आपसी समागम, सह–अस्तित्व और समन्वय से उपजता है। यह कोई आरोपित व्यवस्था नहीं, वरन लोक–मानस के स्वतः स्फूर्त अंतः संबंधों का परिणाम है।

संस्कृति की एक बुनियादी विशेषता पारस्परिक लेन–देन है; परस्पर सम्पर्क के बिना संस्कृति का विकास नहीं हो सकता। हिन्दुस्तान में कितने ही लोग आए, उनके संग भिन्न–भिन्न संस्कृतियाँ भी आईं और इस तरह हिन्दुस्तानी या भारतीय संस्कृति तरह–तरह के खुशनुमा रंगों से सजती चली आई है। 'साँझी', 'मुश्तरका', 'मिलवाँ', 'गंगा–जमुनी' आदि नाम इस भारतीय सामासिक संस्कृति को दुनिया भर की सभ्यताओं के सामने एक आदर्श के रूप में प्रस्तुत करते हैं। साहित्यिक धरातल पर कबीर, जायसी, रहीम और रसखान की जो परम्परा मध्यकाल में निर्मित हुई थी, वह आधुनिक काल की दहलीज़ पर खड़े नज़ीर अकबराबादी के काव्य में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचती है। नज़ीर की सामासिकता महज़ वैचारिक आग्रह नहीं है, बल्कि वह उनके युगीन यथार्थ और आगरा की मिट्टी का जीवंत दस्तावेज़ है।

हिंदी साहित्य का रीतिकाल मुख्य रूप से 'रीति–दरबार' की संस्कृति से संचालित था, जहाँ कविता सामंती आश्रय में बँधकर केवल चमत्कार–प्रदर्शन, राज्याश्रय और बंधी–बंधाई श्रृंगारिकता तक सीमित रह गई थी। नज़ीर अकबराबादी ने इस 'रीति–दरबार' के प्रभुत्व और सामंती न्यौतों को ठुकराकर साहित्य को राजप्रासादों से बाहर निकाला और उसे आम अवाम की सामासिक संस्कृति से जोड़ दिया। नज़ीर की कविता का 'आत्मीय पाठ' करने पर यह स्पष्ट होता है कि वे किसी एक वर्ग या संप्रदाय के कवि नहीं हैं; वे ईद की सेवइयों और होली के रंगों को एक ही आत्मीयता और लोक–उल्लास के साथ अपनी कविता में पिरोते हैं। उनका काव्य भारत की इसी सामासिक अवामी चेतना का सच्चा दस्तावेज है।

नज़ीर अकबराबादी के दौर के विषय में प्रो. मुहम्मद उमर ने लिखा है –"...हिन्दुओं और मुसलमानों में एकता और आत्मीयता के विकास के परिणामस्वरूप एक विशेष संस्कृति के स्वरूप का जन्म हुआ जो न तो शुद्ध मुस्लिम कल्चर था और न उसे शुद्ध हिन्दू कल्चर ही कहा जा सकता है; बल्कि यह व्यापक हिन्दू–मुस्लिम कल्चर था। इस कल्चर से दोनों ही कौमों के

जीवन की हर दिशा प्रभावित हुई थी और जीवन संस्कृति के इसी स्वरूप में रम गया"। [2]
पेशे से मौलवी, नज़ीर अकबराबादी का जन्म 1735 ई. में दिल्ली में हुआ था। उन्होंने नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली के हमलों से 'आलम में इंतिख़ाब' दिल्ली को 'उजड़े हुए दयार' में बदलते हुए देखा तो एक 'बंजारा' की तरह अपने ननिहाल आगरे चले गए और फिर वहीं के होकर रह गए। बकौल नज़ीर –

"आशक़ि कहो, असीर कहो, आगरे का है।
मुल्ला कहो, दबीर कहो, आगरे का है।
मुफ़लिस कहो, फ़क़ीर कहो, आगरे का है।
शायर कहो, नज़ीर कहो, आगरे का है"। [3] (शहर–ए–आशोब)

नज़ीर ने अपने बचपन की स्मृतियों को बड़ी खूबसूरती से कई नज़्मों में बयान किया है:

"क्या बक़्त था वह हम थे जब दूध के चटोरे।
हर आन आँचलों के मामूर थे कटोरे३"। [4] (बचपन के मज़े)

युवावस्था में उन्होंने राजनीतिक परिवर्तनों के कारण संस्कृति और सभ्यता पर उसके कुप्रभाव को देखा था। ग़रीबी हर तरफ छाती जा रही थी, इंसानियत और भाईचारा निरंतर आघात सह रहे थे। इन अहसासों को नज़ीर कलमबंद करते हैं –

"बेरोज़गारी ने यह दिखाई है मुफ़लिसी।
कोठे की छत नहीं है यह छाई है मुफ़लिसी।
दीवारो दर के बीच समाई है मुफ़लिसी।
हर घर में इस तरह से भर आई है मुफ़लिसी"। [5] (शहर–ए–आशोब)

किसी भी संस्कृति की बुनियाद मानवतावाद पर टिकी होती है। हर इंसान पहले इंसान है, फिर किसी जाति, मज़हब या वर्ग का है। नज़ीर बताते हैं कि –

"दुनिया में बादशाह है सो है वह भी आदमी।
और मुफ़लिसो गदा है सो है वो भी आदमी।।
ज़रदार बेनवा है, सो है वह भी आदमी।
नेमत जो खा रहा है, सो है वह भी आदमी।।
टुकड़े चबा रहा है, सो है वह भी आदमी"।। [6] (आदमीनामा)

नज़ीर अकबराबादी अपने दौर की शायरी से अलग अवाम की अनुभूतियों, अवाम की तहज़ीब के चितेरे हैं। उनकी शक्ल में एक विशेष परम्परा की शुरूआत होती है। कच्चे घरों की दालानों में बैठने वाले, मेलों–ठेलों और तमाशों में ज़िन्दगी के सारतत्त्व को महसूस करने वाले नज़ीर की कविता का मिज़ाज निम्नमध्यवर्ग की ज़िन्दगी के सच से तैयार हुआ है।
ज़िन्दगी की गाड़ी खींचने के लिए आगरा की गलियों में घूमते हुए उन्हें 'आटे–दाल का भाव' पता चलता है। वे 'मुफ़लिसी' के तमाम पहलुओं से भी दो–चार होते हैं। हिंदी के अधिकांश रीतिकालीन कवि अब भी जब राज्याश्रय का मोह छोड़ नहीं पाए थे, नज़ीर ने राजा भरतपुर और नवाब सआदत अली ख़ाँ के न्यौते को ठुकरा दिया। नज़ीर की कविता में सामासिक संस्कृति का वह रंग दिखता है जो आगरा और आस–पास के ब्रज–क्षेत्र की मिट्टी से तैयार हुआ। आगरा जहाँ मुग़लिया सल्तनत की राजधानी रह चुका था, वहीं ब्रज–क्षेत्र राधा–कृष्ण के प्रेम और भक्ति के रस में पगा हुआ था। इसके अलावा मेले–तमाशे और पर्व–त्यौहार भी इलाके की ज़िन्दगी में अहम थे। इस मिली–जुली संस्कृति के खाद–पानी ने ही नज़ीर की सोच और उनकी कविता को परवान चढ़ाया है।
अब्दुल अलीम ने लिखा है – "उनकी दृष्टि न केवल मुस्लिम संस्कृति से पोषित है, न हिन्दू संस्कृति से, बल्कि संस्कृति का वह रूप उनकी दृष्टि से छलकता था जो हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति के मिश्रण से इसी देश की मिट्टी में, इसी देश की जलवायु में सामासिक संस्कृति के रूप में विकसित हुई थी"। [7]

वस्तुतः नज़ीर की कविता में व्यक्तिगत जीवन से लेकर धार्मिक, सामाजिक, दार्शनिक सभी संदर्भों में हिन्दुस्तान की सामासिक संस्कृति के रंग दिख जाते हैं। इनके यहाँ भारतीय जीवन के महत्त्वपूर्ण पारिवारिक–सांस्कृतिक रस्मों और संस्कारों का जीवन्त ब्यौरा मिलता है। नामकरण, विवाह, दाह–संस्कार, दफनाना आदि अनेक रीति–रिवाजों पर नज़ीर की नज़्में मिलती हैं। कृष्ण का नामकरण देखिए –

"घुड़नालें छूटी नाच हुआ, और नौबत का गुल शोर मचा।
फिर किशन गरग ने नाम रखा, सब कुनबे के मिल बैठे आ"।। [8] (जनम कन्हैया जी)

इन रीति–रिवाजों के वर्णन में नज़ीर की कविता में एक ख़ास बात यह दिखती है कि वे इसके शास्त्रीय या कर्मकांडीय पहलू की बजाय लोक से जुड़े पहलू को अधिक महत्त्व देते हैं। भोज, औरतों के गीत, सगाई, हल्दी–तेल चढ़ाना आदि जो लोकविश्वास पर आधारित परम्परागत रस्म हैं, उनका नज़ीर ने अत्यंत सरस और सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। यहाँ नज़ीर की मौलिकता भी दिख जाती है। 'ब्याह कन्हैया' नामक अपनी कविता में वे मुस्लिम परम्परा के मुताबिक दूल्हा–पक्ष की ओर से सगाई का न्यौता भिजवाते हैं –

"कई जो नारी वह बूढ़ियाँ थीं, जसोदाजी ने उन्हें बुलाया।
किसी को इधर किसी को उधर सगाई ढूँढन कहीं भिजाया"।। [9] (ब्याह कन्हैया का)

इंसान बतौर इंसान एक–सा ही होता है और बचपन, जवानी तथा बुढ़ापे का अहसास भी सबका लगभग एकसमान होता है। नज़ीर की कविता में मानव जीवन की इन हर अवस्थाओं का वर्णन है। बच्चों की मानसिकता और मस्ती को उन्होंने इस प्रकार दिखाया है –

"दिल में किसी के हरगिज़ ने शर्म ने हया है।
आगा भी खुल रहा है, पीछा भी खुल रहा है।
पहने फिरे तो क्या है, नंगे फिरे तो क्या है।
यां यूं भी वाह वा है और वूँ भी वाह वा है"। [10] (बचपन)

नज़ीर द्वारा किया गया युवावस्था का चित्रण प्रेम, जोश, नैन लगाने, नैन चुराने जैसी बातों से भरा–पगा है। बुढ़ापे पर लिखी गई उनकी कविताएँ बेचारगी के भाव को बड़े मजाकिया अंदाज़ में पेश करती हैं।

नज़ीर ने जीवन और संसार की नश्वरता पर भी कविता लिखी है। अपनी 'बंजारानामा' नज़्म में वे दुनिया के मिट जाने का वर्णन करते हुए इंसान को एक बंजारा बताते हैं –

"यह धूम–धड़क्का साथ लिए क्यों फिरता है जंगल–जंगल?
इक तिनका साथ न जावेगा, मौकूफ़ हुआ जब अन और जल।
घर बार अटारी, चौपारी, क्या ख़ासा, तनसुख और मलमल।
क्या चिलमन, पर्दे, फ़र्श नये, क्या लाल पलंग और रंग–महल।
सब ठाठ पड़ा रह जावेगा जब लाद चलेगा बंजारा"।। [11]

'उनकी मौत', 'झोपड़ा' और 'तौहीद' जैसी कई नज़्मों के माध्यम से नज़ीर बताते हैं कि संसार नश्वर है। इसलिए ऊँच–नीच और भेदभाव को अपनाने की बजाय उस सर्वशक्तिमान से नेह लगाना चाहिए; उसके यहाँ सब बराबर हैं। हालाँकि इसे 'बेअमली का मशविरा' भी कहा जा सकता है, लेकिन उस दौर में जब वर्ग–संघर्ष नहीं था और वर्गीय भेद अत्यंत व्यापक था तो इसे एक सान्त्वना के रूप में ही देखा जाना चाहिए। दरअसल अभाव और बेचारगी से जो मायूसी पैदा होती है, उसमें जीने का सबब बनती है नज़ीर की कविता। उस दौर में जब हम 'राष्ट्रीय चेतना' या 'यथार्थवाद' या फिर 'प्रगतिशीलता' जैसे किसी पारिभाषिक अवबोध का अभाव पाते हैं, तब भी नज़ीर अकबराबादी की कविता में समाज की कड़वी सच्चाई झलकती है। इसकी बानगी पेश करती हैं उनकी ये पंक्तियाँ –

"पूछा किसी ने यह किसी कामिल फ़क़ीर से।
ये मेहरो माह हक़ ने बनाए हैं काहे के।।
वह सुन के बोला, बाबा खुदा तुझ को ख़ैर दे।
हम तो न चांद समझें, न सूरज हैं जानते ।।
बाबा हमें तो यह नज़र आती है रोटियां"।। [12] (रोटियां)

सच ही तो है! पेट की आग दिमाग को सूरज और चाँद के किसी आध्यात्मिक दर्शन या सौंदर्यशास्त्रीय पहलुओं तक पहुँचने ही नहीं देती। भूखा इंसान न तो हिन्दू होता है न मुसलमान, भूखा तो बस भूखा ही है और भूखों को सूरज और चाँद में रोटी की शक्ल ही नज़र आती है।
धर्म या मज़हब संस्कृति का एक अनिवार्य अंग है। नज़ीर के धार्मिक विचार भी सामासिक दृष्टि का परिचय देते हैं। वे जन्म से तो मुसलमान हैं, पर उनका धर्म मानवता–मात्र में विश्वास रखने वाला धर्म है। उन्होंने जिस श्रद्धा से हम्द तथा हज़रत मुहम्मद, हज़रत अली या हज़रत सलीम चिश्ती की मन्क़बत की, उसी श्रद्धा से गुरु नानक, श्रीकृष्ण, दुर्गाजी और गणेश जी को याद किया। हज़रत मुहम्मद साहब को वे दोनों जहाँ का सहारा बताते हैं – 'यां भी तुम वां भी तुम्हीं हो या मुहम्मद मुस्तफ़ा' तो दूसरी ओर, श्रीकृष्ण की लीला का बखान करते हैं –

"यह लीला है उस नंद ललन, मनमोहन जसुमत छैया की।
रख ध्यान सुनो, डंडौत करो, जय बोलो किशन कन्हैया की"।। [13] (खेल कूद कन्हैया जी का)

गुरु नानक की तारीफ़ करते हुए नज़ीर 'वाह गुरु' का उद्घोष ऐसे करते हैं, गोया नानक की वाणी उनके संस्कार का अंग हो –

"इस बख़्शिश के इस अज़मत के हैं बाबा नानक शाह गुरु।
सब सीस नवा अरदास करो, और हरदम बोलो वाह गुरु"। [14] (गुरु नानक)

इस तरह नज़ीर के यहाँ हिन्दू, मुस्लिम या सिक्ख का भेदभाव किए बिना नमाज़, रोज़ा, उपवास, दान, जप, अरदास सभी समान इज्ज़त के साथ आते हैं। नज़ीर ने कई हिन्दू देवी–देवताओं का चित्रण कर हिन्दू बहुदेववाद को उदारता के साथ स्वीकार किया है।
किसी भी समाज के श्रमजीवी वर्ग की उस समाज की संस्कृति में महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। नज़ीर ने अपनी कविताओं में बंजारा, दलाल, पंसारी, बजाज, मनिहार, बिसाती, सुनार, तमोली, लोहार, मल्लाह, जुलाहा और हकीम आदि कामगारों का ब्यौरा खींचा है; जिससे उस दौर की व्यवसायपरक संस्कृति की भी बड़ी साफ़ और जीती–जागती तसवीर उभरती है। नज़ीर हिन्दुस्तान की इस सामासिक संस्कृति में भी आमजन की संस्कृति को ज्यादा उभारते हैं। आम जनता जहाँ रस पाती है, रमती है, वहाँ नज़ीर की नज़र ज़रूर जाती है। विभिन्न प्रकार के पर्व–त्यौहार, खेल–तमाशे, मेलों–ठेलों में बिना फ़र्क किए शरीक होने को उनका जी मचल उठता है।
शबेबरात खुशियों के साथ आशा की किरण देने वाला पर्व है। इसमें भारतीय परम्परा की आतिशबाजी की प्रथा का प्रचलन सामासिक संस्कृति की ही एक विशेषता है। कवि नज़ीर भी शबेबरात के वर्णन के आख़िर में ईश्वर से सबकी जिंदगी रोशन करने की दुआ करते हैं –

"कहता है वां 'नज़ीर' भी आतिश की देख सैर।
या रब तू सबकी कीजियो बरसा बरस की ख़ैर"।। [15] (शब्बरात–1)

दीवाली का वर्णन करते हुए वे कहते हैं –

"चिराग जलते हैं और लोएं झिलमिलाती हैं।
मकां मकां में बहारें ही झमझमाती हैं।
खिलौने नाचें हैं तस्वीरें गत बजाती हैं।
बताशे हंसते हैं और खीलें खिल खिलाती हैं"।। [16] (दीवाली–3)

जुआ दीवाली की एक विकृति के रूप में उनके यहाँ चित्रित है – "किसी ने घर की हवेली गिरो रखा हारी"। फिर भी, उसके महत्त्व को वे सांस्कृतिक नज़रिए से देखते हैं – "नज़ीर आप भी है जुआरिया दीवाली का"। राखी के त्यौहार को देखकर तो उनका दिल स्नेह से भर जाता है और वे ब्राह्मण बनकर अपने प्रियजनों के हाथ में प्यार का बंधन बाँधना चाहते हैं –

"हवस जो दिल में गुजरे है कहूं क्या आह मैं तुमको।
यही आता है जी में बनके बाम्हन आज तो यारो।
मैं अपने हाथ से, प्यारे के बाँधू प्यार की राखी"।। [17] (राखी)

मियाँ नज़ीर को सबसे ज्यादा खुशी तो होली के मौके पर होती है। होली पर उनकी लिखी बीस से अधिक नज्में हैं। इसे वे राष्ट्रीय त्यौहार मानते हैं –

"हिन्द के गुलशन में जब आती है होली की बहार।
जाँ फ़िशानी चाही कर जाती है होली की बहार"।। [18] (होली–14)

त्यौहारों के अतिरिक्त नज़ीर ने अपनी कविता में मेलों के भी सरस ब्यौरे परोसे हैं। मेलों की भीड़–भाड़, धक्का–मुक्की, तरह–तरह की चीजों की खरीद–बिक्री, मोलभाव हर जगह उनकी नजर जाती है। 'बल्देव जी का मेला' ऐसे ब्योरों से पटा पड़ा है। ख़ास बात यह है कि नज़ीर इन सबके वर्णन में धार्मिक ब्यौरों में न जाकर, एक मिलनसार समाज के लिए ज़रूरी हँसी–खुशी, उत्साह और मेल–जोल के चित्रण में मन रमाते हैं। संस्कृति का आबोहवा से गहरा ताल्लुक है। प्रकृति इंसान की प्रत्येक अनुभूति और गतिविधि को प्रभावित करती है। नज़ीर की कविता में हिन्दुस्तान की आबोहवा अपने व्यापक रूप में चित्रित हुई है। बदलते मौसम का जायजा वे बखूबी लेते हैं। जाड़े के वर्णन में वे दाँतों के बजने, सी–सी करने, कँपकँपी आने के साथ–साथ हवा के झोंकों के साथ बारिश होने का भी वर्णन करते हैं –

"पैठी हो सर्दी रग रग में, और बर्फ पिघलता हो पत्थर।
झड़ बाँध महावट पड़ती हो, और तिस पर लहरें ले लेकर।
सन्नाटा वायु का चलता हो, तब देख बहारें जाड़े की"।। [19] (जाड़े की बहारें)

जाड़े के मौसम में गर्मी पाने के लिए 'तिल का लड्डू' खाने में उन्हें बहुत मज़ा आता है। यहाँ तिल के लड्डू में हिंदू पर्व 'मकर संक्रान्ति' की परम्परा का स्वीकार देखा जा सकता है। गर्मी की उमस और बरसात में अमीरों और गरीबों की दशा का बड़ा सटीक ब्यौरा वे देते हैं। धनवान व्यक्ति छतरी लगाकर हाथी पर चढ़कर चल रहे हैं, लेकिन बेचारे गरीब हाथों में जूतियाँ लिए पाँयचे चढ़ाकर निकलते हैं और कीचड़ में गिर भी पड़ते हैं। नज़ीर को सबसे ज्यादा खुशी 'बसंत' में होती है। 'आने को आज धूम इधर है बसंत की' और 'आलम में तशरीफ़ लाई बसंत' कहकर वे खुश होते हैं और 'सबकी तो बसंते हैं, है यारों का बसंता' कहकर झूम उठते हैं। इस प्रकार, नज़ीर की कविता में इंसानी जिन्दगी के तमाम सफेद–स्याह पहलू मौजूद हैं। उनसे गुजरने के बाद सुख और दुख की एक हल्की कैफियत तो ज़रूर पैदा होती है, मगर जिन्दगी से पलायन या निराशा का खयाल नहीं आता।

भाषा की दृष्टि से भी नज़ीर हिन्दुस्तानी सोच के कवि हैं। उनकी काव्यभाषा आमजन के पैमाने से बनी है। अरबी–फ़ारसी के शब्दों के साथ–साथ पंजाबी, मारवाड़ी, ब्रजभाषा और खड़ी बोली के शब्द उनकी कविता में बराबर की जगह पाते हैं। फ़ारसी लिपि में उन्होंने खड़ी बोली को अपनाया। उपयुक्त शब्दों के चुनाव का जो सलीका नज़ीर को था वह कम ही मिलता है। शब्दानुक्रम से संगीत की झंकार पैदा करने में उनका जवाब नहीं। मेले–त्यौहार वाली कविताओं में नज़ीर के यहाँ जो वस्तु–वर्णन की व्यापकता है, वह उर्दू शायरी के लिए नई चीज थी। दृश्यों और घटनाओं की ऐसी जिंदा तसवीरें बहुत कम मिलती हैं। नज़ीर अपने दौर की शायरी के मिजाज से अलग मिजाज रखते थे। उन्होंने ग़ज़ल के उस दौर में नज़्म को प्रतिष्ठित किया। जब प्रभावहीन और विनाशोन्मुख राजसत्ता के दबाव का सामना करने के लिए मीर, सौदा और दर्द ने दुखवाद, व्यंग्य और रहस्यवादिता का सहारा लिया तो नज़ीर ने अमीर–उमरा से परे अवाम की रोजमर्रा की जिन्दगी में उम्मीद, चाह और खुशियों की तलाश की।

वस्तुतः, नज़ीर अकबराबादी भारत की सामासिक संस्कृति के मुकम्मल शायर या कवि रहे हैं। लेकिन हर तरह की विषयवस्तु को आमफ़हम भाषा में पेश करने के कारण ही इन्हें अपने जीते–जी और उसके बाद बरसों तक वह मुकाम न मिला, जिसके वे हकदार थे। साहित्य के पहरुओं ने उन्हें भाँड़, गवैया, तमाशेबाज़... न जाने क्या–क्या कहा और उनकी कविता या शायरी को सतही करार दिया गया। कबीर की ही तरह, लोकसामान्य में उनकी प्रसिद्धि उनका दोष मानी गई। हालाँकि, बदलते दौर के साथ नज़ीर की कविता की कद्र होने लगी। अब्दुल गफ़ूर 'शहबाज़' ने 1900 ई. में 'ज़िन्दगानी–ए–बेनज़ीर' लिखकर उनके महत्त्व को उद्घाटित किया। पुनः प्रगतिशील लेखक संघ के प्रयासों के बाद नज़ीर की कविता को और भी पहचान मिलने लगी। कलीमुद्दीन अहमद, जमील जालबी, सैयद एहतेशाम हुसैन, मुहम्मद हसन, फ़िराक़ गोरखपुरी, रामविलास शर्मा, बच्चन सिंह जैसे उर्दू–हिन्दी के विद्वानों ने नज़ीर की कविता को उसमें अंतर्निहित सामासिक तत्त्वों के आधार पर स्वीकार्यता दिलाने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

नज़ीर अकबराबादी की कविता में सामासिकता के तत्त्वों से रू–ब–रू होने के बाद एक स्वाभाविक–सा प्रश्न कौंधता है कि जब अमीर खुसरो, कबीर, कुतुबन, जायसी, रहीम आदि कवियों को सामासिक संस्कृति के विकास की दृष्टि से या लोकसामान्य की भाषा के प्रयोग के आधार पर हिन्दी साहित्य के इतिहास में सम्मानपूर्ण स्थान दिया जा सकता है तो नज़ीर को क्यों नहीं?

हिन्दी साहित्य के इतिहासलेखन का सुसंगत आरंभ आचार्य रामचंद्र शुक्ल से माना जाता है और एक प्रकार से कहें तो हिन्दी साहित्य में नज़ीर अकबराबादी की कविता की उपेक्षा भी वहीं से शुरू हो जाती है। ऐसा भी नहीं था कि शुक्लजी के इतिहास के लेखन–काल तक नज़ीर की कविताएँ उपलब्ध नहीं थीं। इस संदर्भ में इसके पूर्व 'जिन्दगानी–ए–बेनज़ीर' (1900 ई.) का उल्लेख किया चुका है। आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास–ग्रंथ में लिखा है – "कुतुबन, जायसी आदि इन प्रेम कहानी के कवियों ने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए उन सामान्य जीवन दशाओं को सामने रखा जिनका मनुष्यमात्र के हृदय पर एक–सा प्रभाव दिखाई पड़ता है। हिंदू हृदय और मुसलमान हृदय आमने–सामने करके अजनबीपन मिटाने वालों में इन्हीं का नाम लेना पड़ेगा। इन्होंने मुसलमान होकर हिंदुओं की कहानियाँ हिंदुओं की ही बोली में पूरी सहृदयता से कहकर उनके जीवन की मर्मस्पर्शिनी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामंजस्य दिखा दिया"। [20] लेकिन इन्हीं विशेषताओं के बावजूद नज़ीर उनकी नज़रों में वह जगह नहीं पा सके। उन्होंने अपने इतिहास में रीतिकाल की बजाय आधुनिक काल के दूसरे प्रकरण में काव्यखंड की नई धारा के प्रथम उत्थान के विवेचन के क्रम में खड़ी बोली की पद्य–रचना की परंपरा में उनका संक्षिप्त उल्लेख किया है। नज़ीर की पद्य–रचना का एकमात्र उदाहरण देते हुए शुक्ल जी उनके विषय में अपनी संक्षिप्त राय देते हैं – "पीछे नज़ीर अकबराबादी ने (जन्म संवत् 1797, मृत्यु 1877) कृष्णलीला संबंधी बहुत से पद्य हिन्दी खड़ी बोली में लिखे। वे एक मनमौजी सूफी भक्त थे"। [21]

यह भी एक रोचक तथ्य है कि जब आचार्य शुक्ल ने साहित्य के इतिहासलेखन की दिशा और दशा तय कर दी तो उसका संपूर्ण भक्तिभाव से अनुपालन करना काफी दिनों तक प्रायः एक अलिखित नियम ही माना जाता रहा। बहरहाल, कई विद्वानों ने अपनी मौलिकता का भी परिचय दिया है। बच्चन सिंह ने 'हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास' नामक अपने इतिहास–ग्रंथ में रीतिकाल के विवेचन में 'हिन्दी की उर्दू शैली का काव्य' शीर्षक से एक अलग प्रकरण रखा है और उसमें मीर, नज़ीर और ग़ालिब के काव्य पर भी विचार किया है। अपनी भूमिका में उन्होंने रीतिकाल के प्रसंग में कहा है – "इसी काल में हिन्दी शैली की उर्दू कविताएँ लिखी जा रही थीं जिनकी भाषा खड़ी बोली और आत्मा सेक्युलर है"। [22] पुनः अपने विवेचन के क्रम में बच्चन सिंह ने नज़ीर अकबराबादी की कविता के विषय में लिखा है – "नज़ीर की कविता के लिए नया सौंदर्यशास्त्र गढ़ना होगा। ...यदि अभिधा उत्तम काव्य है तो नज़ीर का काव्य भी उत्तम है। ३.वे न भक्तकवियों की परंपरा में आते हैं और न रीतिकवियों की। उनकी अलग परंपरा है। उसे कोई जन–परंपरा कह सकता है"। [23]

निष्कर्ष

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अपनी सांस्कृतिक चेतना और सामासिक संस्कृति के तत्त्वों –विषयवस्तु और भाषा– की उपस्थिति के आधार पर नज़ीर अकबराबादी की कविता हिन्दी साहित्य के इतिहास में उतना ही हक रखती है जितना अमीर खुसरो, कबीर, कुतुबन, जायसी, रहीम आदि की कविता। नज़ीर को दरबारी और शास्त्रीय मानदंडों की संकीर्ण परिधि से बाहर निकालकर जब हम जन–परंपरा के विस्तृत परिप्रेक्ष्य में देखते हैं, तो वे एक युगद्रष्टा के रूप में उभरते हैं। उनकी कविता महज़ मनोरंजक तुकबंदी नहीं, बल्कि अठारहवीं–उन्नीसवीं शताब्दी के संक्रमण काल में बिखरते समाज को जोड़ने वाला एक मजबूत सांस्कृतिक सेतु है। आचार्य शुक्ल ने जहाँ उन्हें 'मनमौजी सूफ़ी भक्त' कहकर हाशिये पर छोड़ दिया, वहीं समकालीन प्रगतिशील और जनवादी आलोचना ने उनके काव्य के भीतर धड़कते हुए वास्तविक 'हिंदुस्तान' को पहचाना है। नज़ीर भाषा और संवेदना दोनों स्तरों पर संकीर्णताओं के भंजक हैं। वैचारिक या आस्थागत असहिष्णुता के वर्तमान दौर में विश्वविद्यालयों के हिन्दी साहित्य के पाठ्यक्रम में नज़ीर की कविता को अनिवार्य रूप से शामिल किया जाना सामाजिक–सांस्कृतिक दृष्टि से, निश्चय ही, एक

उपचारात्मक कदम होगा। यह कदम न केवल हमारी भावी पीढ़ी को सांस्कृतिक रूप से समृद्ध और उदार बनाएगा, बल्कि हिंदी साहित्य के इतिहासलेखन की लोकतांत्रिक और समावेशी चेतना को भी एक न्यायसंगत दिशा प्रदान करेगा।

संदर्भ–सूची

1. आर. एम. मेकाइवर और चार्ल्स एच. पेज, सोसायटी: एन इंट्रोडक्टरी एनालिसिस, मैकमिलन एंड कंपनी, लंदन, 1959, पृ.499
2. डॉ. अब्दुल अलीम, नज़ीर अकबराबादी और उनकी विचारधारा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1992, पृ. 92
3. (सं) डॉ. नज़ीर मुहम्मद, नज़ीर ग्रंथावली, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1992, पृ. 492
4. वही, पृ. 280
5. वही, पृ. 484
6. वही, पृ. 239
7. डॉ. अब्दुल अलीम, नज़ीर अकबराबादी और उनकी विचारधारा, पृ. 95
8. (सं) डॉ. नज़ीर मुहम्मद, नज़ीर ग्रंथावली, पृ. 559
9. वही, पृ. 576
10. वही, पृ. 278
11. वही, पृ. 177
12. वही, पृ. 215
13. वही, पृ. 570
14. वही, पृ. 84
15. वही, पृ. 318
16. वही, पृ. 375
17. वही, पृ. 379
18. वही, पृ. 358
19. वही, पृ. 462
20. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी, संवत् 2058 विक्रमी, पृ. –55–56
21. वही, पृ. 323
22. बच्चन सिंह, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, भूमिका (पृ.– प•)
23. वही, पृ. 245